

शिक्षा के उद्देश्यों पर पुनर्विचार

क्रिस्टोफर विंच

शिक्षा किसी भी समाज में कुछ निश्चित उद्देश्यों को हासिल करने का एक साधन होती है। इन उद्देश्यों को स्पष्ट रूप से परिभाषित करना और इन पर समाज की सहमति बनाना आवश्यक है। इसके बिना शिक्षा व्यवस्था या संस्था की जवाबदेही तय करना मुश्किल होगा। हालांकि आधुनिक जटिल समाजों में यह काम आसान नहीं है। यह लेख शिक्षा के लक्ष्यों को स्पष्ट रूप से परिभाषित करने और समाज की सहमति बनाने पर जोर देता है। साथ ही आगाह करता है कि इसके अभाव में प्रभावशाली समूह शिक्षा को अपने हित में इस्तेमाल कर सकते हैं।

I. मुद्दे का महत्त्व

किसी भी स्वस्थ सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था की जवाबदेही बनाए रखने की ज़रूरत होती है। किसी संस्था को तब जवाबदेह माना जाता है जब हम यह तय कर सकें कि उसे जिन उद्देश्यों से स्थापित किया गया था उन्हें वह पूरा कर भी रही है या नहीं। सो जवाबदेही का अनुपालन यह जांच कर किया जा सकता है कि क्या उसके उद्देश्य पूरे हो रहे हैं और उन्हें कितनी अच्छी तरह से पूरा किया जा रहा है। जवाबदेही को निबाहने के लिए संस्था के उद्देश्यों की स्पष्ट अभिव्यक्ति करनी होती है। या उसमें रुचि रखने वाले पक्षों को कम से कम इस बात पर सहमत होना होता है कि दरअसल ये ही उसके उद्देश्य हैं; अन्यथा उनका अनुमान लगाना मुश्किल होगा और समूचा प्रयास ही संकट में घिर जाएगा। इसका मतलब हुआ कि अगर सार्वजनिक शिक्षा को जवाबदेह होना है तो या तो उसे अपने उद्देश्यों को अभिव्यक्त करना होगा या उसके उद्देश्यों पर सभी संबंधित लोगों को सहमत होना होगा। इसके अलावा, उसकी गुणवत्ता का (किसी भी अर्थ से) आकलन कर पाने के लिए उसके प्रदर्शन को स्वीकृत उद्देश्यों के

पैमाने पर मापना भी ज़रूरी होगा।

जब शिक्षा के प्रमुख उद्देश्यों पर स्पष्ट सहमति न हो, तो इस बात का खतरा रहता है कि गुप्त (Hidden) उद्देश्य सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था के संचालन को तय करने में सबसे प्रभावी बन जाएं। यह भी संभव है कि इन उद्देश्यों को व्यवस्था के अंदर और बाहर के सबसे प्रभावशाली समूहों द्वारा निर्धारित किया जाए। क्योंकि ऐसे में उद्देश्यों पर सार्वजनिक वाद-विवाद बेहद कम होगा या बिलकुल नहीं होगा। यह भी संभव है कि कुछ लोगों के हितों पर ध्यान ही न दिया जाए बल्कि उनको क्षति तक पहुंचाई जाए। अगर किसी समाज की शिक्षा व्यवस्था के उद्देश्य स्पष्ट न हों और उन पर आम सहमति न हो, तो खतरा यह हो सकता है कि न केवल उसकी शिक्षा व्यवस्था अस्वस्थ होगी बल्कि जिन समूहों के हितों की उपेक्षा की गई है उनमें व्यापक व नुकसानदेह असंतोष भी पनपे।

उद्देश्यों को अभिव्यक्त कर जवाबदेही को स्थापित करना सरल और संभव प्रतीत होता है। पर दुर्भाग्य से यह उतना सरल है नहीं, खासकर किसी विशाल और जटिल समाज में। फिर भी किन्हीं परिस्थितियों में ऐसा करना संभव है। पर जब तक इन परिस्थितियों को पहचाना नहीं जाता, यह भी हो सकता है कि अभिव्यक्त शैक्षिक उद्देश्य अपूर्ण रहें या नदारद ही रह जाएं। शैक्षिक उद्देश्यों को अभिव्यक्त करने का सबसे जाहिर तरीका यह पूछना है कि

लेखक परिचय

इंग्लैण्ड के जाने-माने समकालीन शिक्षा दार्शनिक हैं और किंग्स कॉलेज, लंदन में शिक्षा दर्शन के प्रोफेसर हैं।

शिक्षा की दरकार आखिर है किसलिए। इस प्रश्न का उत्तर देने के बाद उन उद्देश्यों को गढ़ना संभव होना चाहिए। तत्पश्चात्- संस्थाओं, पाठ्यचर्या, शिक्षाशास्त्र और मूल्यांकन को इन उद्देश्यों के अनुरूप बनाया जा सकता है। यहां एक ऐसे इंसान की उपमा दी जा सकती है जिसे अपने बाग की घास काटने की जरूरत है: वह तब अपने उद्देश्य को गढ़ता है, जो घास की कटाई है। इसके बाद वह घास काटने की मशीन खरीदता है जो उसके उद्देश्य को हासिल करने के लिए माकूल हो। इस मशीन की गुणवत्ता का मूल्यांकन दो मानदण्डों के आधार पर किया जा सकता है कि वह मशीन घास काटती है या नहीं और कितनी अच्छी तरह काटती है।

कुछ सामाजिक बदलावों का वर्णन इस तकनीकी मॉडल के अनुरूप काफी सटीकता से किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, कार चालकों के आचरण को सड़क की सतह को परिवर्तित कर प्रभावित किया जा सकता है, ताकि वे धीमी गति से चलें। पर इस तकनीकी बदलाव को पूरी तरह सफल होने के लिए भी प्रभावित लोगों के जुड़ाव की दरकार होती है। अन्यथा वे इस बदलाव से सहयोग ही नहीं करेंगे। और तब तमाम ऐसी अनपेक्षित परिस्थितियां उभरेंगी जो चालकों के आचरण को बदलने के उद्देश्य को ही विफल बना डालेंगी।

बहरहाल, समाज ऐसे तंत्र नहीं होते जो पृथक-पृथक काम करने वाली विभिन्न संस्थाओं से बने हों। समाज तो परस्पर संबद्ध संस्थाओं की ऐसी शृंखला होते हैं जिनके अपने इतिहास, संस्कृतियां और नियमों के संजाल (नेटवर्क) होते हैं और जो उसके सदस्यों के जीवन के सभी पहलुओं को प्रभावित करते हैं। समाज के विभिन्न पहलू एक-दूसरे पर असर डालते हैं। अतः यह हो सकता है कि किसी एक पहलू में आए बदलाव दूसरे पहलू को प्रभावित करें। अतः शिक्षा में आया बदलाव अर्थव्यवस्था या न्याय व्यवस्था कैसे काम करती है, इसे प्रभावित कर सकता है। क्योंकि शैक्षिक बदलाव किसी समाज को पूरी तरह या उसके बड़े भाग को प्रभावित कर सकते हैं। यह मसला कुछ शिक्षा विशेषज्ञों द्वारा तय किया जाने वाला तकनीकी मसला मात्र नहीं हो सकता। अगर हम एक स्वस्थ शिक्षा व्यवस्था चाहते हैं तो बदलावों को तय करने में उन सभी का प्रतिनिधित्व होना चाहिए जो उससे प्रभावित होते हैं।

हरेक शिक्षा व्यवस्था के किसी न किसी प्रकार के लक्ष्य होंगे ही, फिर चाहे वे गुप्त या अप्रत्यक्ष ही क्यों न हों। जो समाज अपनी शिक्षा व्यवस्था के उद्देश्यों को अभिव्यक्त नहीं करता या उनके बारे में स्पष्ट तक नहीं हो पाता उसकी शिक्षा व्यवस्था दोयम दर्जे की ही होगी। क्योंकि समाज के कुछ महत्वपूर्ण हितों को यह अभिव्यक्त करने का मौका ही नहीं मिल पाएगा कि वे शिक्षा से क्या चाहते हैं। इससे वे अपने हितों का प्रतिनिधित्व करने का अवसर भी खो देंगे और खतरा यह रहेगा कि संस्था के रूप में शिक्षा से उनका मोहभंग हो जाए और वे उसका तिरस्कार करने लगें। अतः सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था के उद्देश्यों का गठन किसी भी ऐसे लोकतांत्रिक समाज के लिए अत्यावश्यक है जो ऐसी कारगर शिक्षा व्यवस्था चाहता है जिस पर आबादी के सभी तबकों को भरोसा हो।

इसके अलावा, शिक्षा किसी भी समाज का मूलभूत तत्व है, क्योंकि जिस किसी समाज का अब तक अस्तित्व रहा है या भविष्य में होगा उसे अपने बच्चों को वयस्क जीवन के लिए तैयार करना ही होगा। शिक्षा की परिपाटी उतनी ही पुरातन है जितनी मानव जाति है। इसका तात्पर्य यह है कि शिक्षा अपने साथ एक विशाल सांस्कृतिक परंपरा लाती है जो किसी भी समाज की जड़ तक जाती हो। शिक्षा के किसी भी बदलाव का उस समाज की सांस्कृतिक पहचान पर भारी असर पड़ता है। किसी भी समाज की प्राचीन संस्था के रूप में शिक्षा की अपनी परंपराएं, कर्मकांड और प्रथाएं होती हैं जो कुछ हद तक यह तय करती हैं कि उसका संचालन किस प्रकार होगा। फिर चाहे उस पर कैसा भी बाहरी प्रभाव क्यों न हो। बाह्य रूप से तयशुदा उद्देश्यों के अभाव में शिक्षा व्यवस्था अपने आंतरिक उद्देश्य विकसित करेगी, जो गुप्त होंगे और सबसे अधिक नुकसान पहुंचाने वाले उद्देश्य होंगे। ये गुप्त उद्देश्य ज़्यादातर परंपरा पर निर्भर होंगे, अर्थात् शिक्षा व्यवस्था से जुड़े लोगों और उस व्यवस्था के सबसे प्रभावशाली व्यक्तियों के हितों को साधेंगे। साथ ही उन पर व्यापक समाज के प्रभाव भी होंगे।

शिक्षा प्रणाली में व्यापक स्तर पर प्रस्तावित किसी भी परिवर्तन के दो भिन्न निहितार्थ होते हैं। पहला वह असर है जो शेष समाज पर पड़ता है। दूसरा वह असर है जो स्वयं शिक्षण संस्थाओं पर होगा। जब तक इन दोनों को समझा

नहीं जाता, संभव यह है कि लाए गए बदलावों के परिणाम अनपेक्षित, यहां तक कि अवांछनीय हों। किसी भी शिक्षा व्यवस्था में जो सबसे बुनियादी बदलाव लाए जा सकते हैं वे हैं, बदलाव की प्रक्रिया प्रारंभ करना, उद्देश्यों को स्पष्ट रूप से परिभाषित करना या शिक्षा के उद्देश्यों को बदलना। यही कारण है कि न केवल राजनीतिज्ञों के बल्कि समूचे समाज के ही सामने ऐसी चर्चा से बचने या उसे टालने का लालच रहता है। यह लोभ तब और भी मज़बूत बनता है जब इन उद्देश्यों पर व्यापक व महत्त्वपूर्ण असहमति होने की आशंका हो। फिर भी, अगर इन उद्देश्यों को चर्चा और मोल-तोल की प्रक्रिया द्वारा तय नहीं किया जाता तो वे इसी चूक के चलते शिक्षा व्यवस्था के अंदर स्वतः ही उभरेंगे और तब अधिक संभावना यही होगी कि उनका स्वरूप अप्रत्यक्ष हो। यह ज़रूरी नहीं कि ऐसा दुर्भावना या जवाबदेही से बचने की इच्छा से किया गया हो। बल्कि यह किसी संस्था में कार्यरत लोगों में एक दृष्टिकोण विकसित करने की स्वभाविक इच्छा का नतीजा भी हो सकता है, जो यह समझना चाहते हों कि वे दरअसल कर क्या रहें हैं और जो अपने कार्य जीवन को संतोषप्रद व अनुकूल भर बनाना चाहते हों।

II. उद्देश्यों को सबसे अच्छी तरह अभिव्यक्त कैसे किया जाए?

ऐसे किसी प्रश्न का कोई एक जवाब नहीं हो सकता: वह तो स्थानीय राज्य व्यवस्था की प्रकृति पर ही निर्भर होगा। जिन समाजों में अप्रत्यक्ष सहमति मज़बूत हो और हितों के टकराव का स्तर नीचा हो, उनमें वाद-विवाद अनावश्यक हो सकता है या उसकी ज़रूरत कम भी हो सकती है। ऐसे मामलों में, उद्देश्यों पर अप्रत्यक्ष सहमति आधिकारिक दस्तावेजों में कम या बिना कुछ कहे ही संभव हो सकती है। जबकि दूसरे छोर पर सबके अनुकूल उद्देश्यों के प्रारूप को सावधानी से बनाने के पहले व्यापक बहस और लम्बित तोल-मोल प्रक्रिया की ज़रूरत पड़ सकती है। यह स्थिति तब सामने आएगी जब समाज जटिल हो और उसके विभिन्न समूहों के हित आपस में टकराते हों। उदाहरण के लिए, अगर उस समाज में गहरे राष्ट्रीय या धार्मिक विभाजन हों।

एक समस्या शुरू से ही उठ सकती है। शिक्षा का मकसद बच्चों को वयस्क जीवन के लिए तैयार करना है। अर्थात् उसका सरोकार मनुष्य को कैसा जीना चाहिए से भी है। मतलब कि नैतिक मूल्यों से जुड़े सवाल शिक्षा के उद्देश्यों से बंधे हुए होते हैं। शैक्षिक उद्देश्य आंशिक रूप से उन मूल्यों को अभिव्यक्त करेंगे जिन्हें समाज महत्त्वपूर्ण मानता हो, फिर चाहे ये धार्मिक हों या नैतिक हों, या दोनों ही हों। पर यह कहना कि किसी व्यक्ति या सामाजिक समूह के मूल्यों पर मोल-तोल किया जा सकता है, भूल होगी। मूल्य ऐसी वस्तुएं नहीं होतीं जिन पर मोल-तोल संभव हो। बेशक हम इस बात पर मोल-तोल कर सकते हैं कि किसी को संबोधित करने का उचित तरीका क्या होना चाहिए, पर इस पर नहीं कि हमें लोगों का सम्मान करना चाहिए। इस पर भी मोल-तोल किया जा सकता है कि जिन मूल्यों पर व्यक्ति की आस्था हो वह उनका पालन किस तरह करे। उदाहरण के लिए, दो उपयोगितावादी (यूटैलिटेरियन्स) इस बात पर बहस कर सकते हैं कि किसी राह को पकड़ने के नतीजे क्या होंगे। दोनों का ही यह मानना भी हो सकता है कि अधिकतम लोगों की अधिकतम खुशी को तवज्जो देना ज़रूरी है। पर वे इस उद्देश्य को बढ़ावा देने के तरीके पर फिर भी असहमत हो सकते हैं।

फिर भी, लगता यह है कि हम अपने मूल्यों को बिना शर्त स्वीकारते हैं। हम जिस किसी भी तरीके से उन तक पहुंचें, वे स्वयं को व दूसरों को और दुनिया को देखने के हमारे नज़रिए का इस कदर हिस्सा होते हैं कि वे हमारी प्रकृति का ही अंग बन जाते हैं। अतः उनके विषय में मोल-तोल करने की चेष्टा तब उनसे विश्वासघात करना ही प्रतीत होगा। अगर उन पर मोल-तोल किया जा सकता है तो इस बात पर ही सवालिया निशान लग सकता है कि क्या उन पर हमारी आस्था वास्तविक थी। यह सब कहने का मतलब यह नहीं है कि हमें नैतिकता के भावनावादी (Emotivist) या अंतर्बोधवादी (Intuitionist) सिद्धांत के प्रति कटिबद्ध होना चाहिए। जो यह मानता हो कि व्यक्ति के मूल्य सदाचार द्वारा अभिव्यक्त किए जाते हैं, या जिसका विश्वास उपयोगितावादी दृष्टिकोण में हो, उन दोनों की ही प्रतिबद्धता दरअसल एक ही चीज़ में होगी। कांट के सिद्धांत में विश्वास करने वाला व्यक्ति यह नहीं कह सकता है कि विवेकवान इंसान को लक्ष्य मानने के बजाए माध्यम मानना चाहिए, और साथ ही यह भी कि इस सिद्धांत पर मोल-तोल किया जा सकता है।²

यह शैक्षिक लक्ष्यों पर विभिन्न हित समूहों के बीच किसी प्रकार के मोल-तोल के आधार के लिए कठिनाई पेश करता है। अगर शैक्षिक लक्ष्यों का वास्ता मूल्यों से है और मूल्य में मोल-तोल नहीं किया जा सकता तब शैक्षिक उद्देश्यों पर मोल-तोल भला कैसे संभव हो सकता है? ऐसा करने की चेष्टा ही निरर्थक होगी। पर यह आपत्ति शिक्षा के उस राजनीतिक वर्णन के लिए घातक नहीं है जिसे मैं पेश करता रहा हूँ। हालाँकि इस बात का संकेत बेशक मिलता है कि जो प्रस्तावित किया जा रहा है वह काफी कठिन हो सकता है। मोल-तोल की प्रक्रिया प्रारंभ से ही इसलिए निष्प्रभावी नहीं हो जाती क्योंकि किसी भी समूह के किसी भी व्यक्ति के लिए अपने मूल्यों पर मोल-तोल करने की जरूरत होनी ही नहीं चाहिए। ऐसी प्रक्रिया में उन्हें सिर्फ सार्वजनिक क्षेत्र में उन मूल्यों के क्रियान्वयन पर समझौते के लिए ही आमंत्रित किया जाता है।

हालाँकि उपरोक्त चर्चा यह सुझाती है कि इस प्रकार का समझौता संभव है, पर किन्हीं परिस्थितियों में यह कठिन भी हो सकता है। इसलिए क्योंकि यह काफी धीरज और सहिष्णुता की मांग करता है और साथ ही मुद्दों को अन्य उपायों के बजाए मोल-तोल द्वारा ही सलटाने की इच्छा शक्ति की भी। ऐसे समझौते के लिए समाज में पर्याप्त साझा आधार भी होना चाहिए। उदाहरण के लिए, अगर कोई दो समूह एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति को इस हद तक खो चुके हों कि वे एक-दूसरे के साथ मोल-तोल से तय किए गए समझौते की वैधता को स्वीकारें ही नहीं, तो संवाद संभव नहीं होगा। मूल्यों को लागू करने के समझौते के पहले कुछ शर्तों को पूरा करना ज़रूरी है। जहाँ अधिकतर मूल्य साझे हों वहाँ समझौते की कठिनाइयाँ भी कम हो जाएँगी। बेशक यहाँ भी किन मूल्यों को प्राथमिकता दी जाए इसे लेकर राय अलग-अलग होगी। पर अगर दोनों पक्ष इस बात पर सहमत हों कि शैक्षिक उद्देश्यों में मूल्यों के किसी एक समूह को स्थापित करना है और मतभेद केवल प्राथमिकता के मसले पर हो, तो बातचीत करना बहुत मुश्किल नहीं होगा।

जब दोनों पक्षों के मूल्यों में अंतर तो हो, पर वे मूल्य परस्पर विरोधी न हों, तब भी दोनों को व्यापक शैक्षिक उद्देश्यों में शामिल किया जा सकता है। जब दो नैतिक दृष्टिकोण कमोबेश संगत हों पर भिन्न व परस्पर विरोधी धार्मिक दृष्टिकोणों से निकले हों तब भी किसी सहमति तक पहुँचना बहुत कठिन नहीं होगा, बशर्ते उन्हें सार्वजनिक क्षेत्र में धर्मनिरपेक्ष (सेक्यूलर) या धार्मिक रूप से तटस्थ मुहावरों में प्रोत्साहित किया जाए। सबसे भारी समस्याएँ तब उठेंगी जब दो समूहों के नैतिक मूल्य परस्पर विरोधी हों। समस्या खासतौर से तब और भी पेचीदा होगी जब दोनों समूहों के लिए ये मूल्य केंद्रीय महत्त्व रखते हों।

उपरोक्त चर्चा सुझाती है कि मोल-तोल हमेशा संभव नहीं होता। जब कोई समाज मूल्यों से संबंधित बुनियादी सवालों पर आंतरिक सहमति तक नहीं पहुँच पाता तो जाहिर है कि उस समाज में समझौते की खास गुंजाइश भी नहीं रहती। चर्चा यह भी सुझाती है कि मूल्यों के क्रियान्वयन के विषय में मोल-तोल किसी बहुलतावादी या बहुसांस्कृतिक समाज में भी हो सकता है, बशर्ते भिन्न-भिन्न मूल्यों वाले विविध समूह उन मूल्यों पर समझौता करने को तैयार हों और मोल-तोल के नतीजे को वे न्यायपूर्ण भी मानें। किसी समझौते को स्वीकारना न केवल यह मानकर चलता है कि विभिन्न समूहों का नज़रिया लोकतांत्रिक व सहिष्णु होगा, बल्कि वे किसी ऐसी बाहरी सत्ता की अधीनता भी स्वीकारेंगे जिस पर उन्हें भरोसा भी हो। भरोसा इस बात पर कि वह सत्ता समझौता करवा सकती है और यह सुनिश्चित कर सकती है कि समझौते की शर्तों का पालन किया जाएगा। आधुनिक समाज में ये सारी शर्तें पूरी की जा सकती हैं, पर यह ढोंग करना बेमानी होगा कि उनके कारण दबाव या तनाव पैदा नहीं होता या इन शर्तों को पूरा करना कई बार कठिन होता है। कुछ समाजों के लिए (यू.के. इनमें से एक हो सकता है) यह कोशिश बेहद कठिन सिद्ध हो सकती है। नतीजतन, समाहित किए जाने वाले मूल्यों पर और इस कारण शिक्षा के उद्देश्यों पर एक बुनियादी अस्पष्टता पैदा होगी।

III. शिक्षा के एक उद्देश्य के रूप में स्वायत्ता

शिक्षा का प्राथमिक सरोकार है युवा वर्ग को वयस्क जीवन के लिए तैयार करना। अधिकांश समाजों में और बेशक हमारे जैसे समाज में इसका निहितार्थ है कि नव-वयस्क स्वायत्त बनें, स्वतंत्र और उत्पादक जीवन जिएं और अपने

निर्णयों की ज़िम्मेदारी स्वीकारें। हम स्वायत्ता की बात कई अर्थों में कर सकते हैं। न्यूनतम अर्थ में इसका मतलब होगा कि विवेकपूर्ण सीमा में स्वतंत्रता के साथ इस दुनिया में अपनी राह स्वयं तलाश पाने की क्षमता, पर इस तरह नहीं कि व्यक्ति अपने जीवन के मुख्य निर्णय खुद-ब-खुद ले सके। जो व्यक्ति इस अर्थ में स्वायत्त हो वह साधन/माध्यम के विषय में स्वायत्त हो सकता है पर साध्य/लक्ष्य के विषय में नहीं। किसी लोकतांत्रिक समाज के अधिकांश लोग इससे भी आगे बढ़कर कहेंगे कि कम से कम जीवन के कुछ लक्ष्यों का विवेकपूर्ण चयन कर पाने की क्षमता पर्याप्त रूप से शिक्षित व्यक्ति में होनी ही चाहिए। स्वायत्ता के इस अर्थ को कई बार 'कमजोर स्वायत्ता' कहा जाता है। कुछ दूसरे लोग इससे भी आगे बढ़कर कहेंगे कि वास्तव में तार्किक बनने के लिए व्यक्ति को समाज द्वारा प्रस्तावित मान्य लक्ष्यों की विवेचना कर पाने की क्षमता की दरकार होगी और ऐसे लक्ष्यों को चुनने की आज़ादी की भी, जो आवश्यक रूप से समाज के पसंदीदा लक्ष्य न हों। केवल तब ही सार्थक स्वायत्ता कहलाएगी। इस नज़रिए को कई बार 'मज़बूत स्वायत्ता' कहा जाता है।³

तो शिक्षा के लिए इन उद्देश्यों का निहितार्थ भला क्या है? न्यूनतम स्तर पर हर तरह की शिक्षा की आवश्यकता यह है कि बच्चों की बुनियाद तैयार की जाए। अर्थात् वह बुनियादी साक्षरता व अंक ज्ञान, संस्कृति के विषय में कुछ ऐतिहासिक, भौगोलिक, वैज्ञानिक तथ्यों से परिचित हो; साथ ही इतना व्यवहारिक ज्ञान व कौशल हासिल कर ले कि स्वयं अपनी राह तलाश सके।⁴ कुछ समाजों में ऐसी बुनियाद को स्वायत्ता का न्यूनतम स्तर माना जा सकता है। इस अर्थ में कि यहां साधन/माध्यम चुनने की आज़ादी है, पर हमारे (यू. के.) जैसे देश में स्वीकार्य नहीं है।

किसी जटिल समाज में इस बुनियादी तैयारी को प्राथमिक स्तर के आगे सामान्य माध्यमिक शिक्षा के स्तर तक फैलाना होगा। इसलिए ताकि बच्चे उतना व्यापक और गहन ज्ञान हासिल कर सकें जो समाज का उत्पादक सदस्य बनने के लिए आवश्यक है। साथ ही उन्हें सामान्य व विशिष्ट व्यावसायिक ज्ञान और कौशलों व समझ को भी हासिल करना होगा, ताकि वे बाद में अपने व्यवसाय को चुनकर उसमें बढ़ सकें। इस सबका मतलब यह हुआ कि स्वायत्ता को विकसित करने के लिए महज उदारवादी (लिबरल) शिक्षा की नहीं, बल्कि ऐसी व्यावसायिक शिक्षा की आवश्यकता होगी जिसका स्वभाव उदार हो। और अगर स्वायत्ता स्वयं में एक अंतर्निहित अच्छाई है तो फिर किसी भी किस्म की व्यावसायिक शिक्षा उस अंतर्निहित गुण को हासिल करने का एक साधन है।

उपरोक्त कथन इस तथ्य को नहीं नकारता कि शिक्षा के उदारवादी किस्मों का जायज लक्ष्य स्वायत्ता हो सकता है। उदारवादी शिक्षा के अधिकांश भाग का सरोकार व्यापक और गहन ज्ञान देना है। इस प्रकार के ज्ञान को हासिल करना किशोरों के लिए ज़रूरी है ताकि वे हमारे जटिल और लगातार बदलते समाज में अपनी राह तलाश सकें। पर ऐसी उदार शिक्षा जो किशोरों को समाज का उत्पादक सदस्य बनाकर उन्हें स्वायत्त बनाने में असफल रहे, वह अपने उद्देश्यों में असफल ही मानी जाएगी। अगर समाज का उत्पादक सदस्य बनाने के लिए अधिक या कम हद तक व्यावसायिक तैयारी के तत्व की ज़रूरत है, तो यह ऐसी किसी भी प्रकार की शिक्षा का भी आवश्यक तत्व होगा जो स्वयं को 'उदार' कहना चुनती है।

यह सब उदारवादी शिक्षा में बिना अधिक कुछ जोड़े भी हासिल किया जा सकता है। क्योंकि परंपरागत रूप से यह माना जाता है कि उदार शिक्षा व्यापक और गहन ज्ञान देती है, और उस ज्ञान को हासिल करने के दौरान जो कौशल हासिल किए जाते हैं, वे किसी न किसी प्रकार के पेशे को अपनाने के लिए काफी होते हैं। वैकल्पिक रूप से, अगर बच्चों के लिए समाज का उत्पादक सदस्य बनना ज़रूरी न हो, उदाहरण के लिए, अगर वे इतने समृद्ध हों कि बिना काम-धंधा किए जी सकें और उनमें समाज के राजनैतिक, घरेलू, सामाजिक या आर्थिक जीवन में योगदान करने की कोई इच्छा ही न हो, तब भी ऐसी उदार शिक्षा से काम चल सकता है जिसके उद्देश्यों में स्वायत्ता शामिल न हो।⁵ परन्तु यह उदार जन शिक्षा के पैरोकारों के लिए एक घातक छूट होगी। इसलिए, क्योंकि इन पैरोकारों के सुझाव अधिकांश बच्चों को समाज के ऐसे स्वायत्त और उत्पादक सदस्य बनने अनुमति ही नहीं देंगे जिसकी इच्छा अधिकांश बच्चों की होती है।⁶

व्यावसायिक शिक्षा का सरोकार ऐसे ज्ञान, कौशल और समझ के विकास से होता है जो व्यक्तियों को किसी खास किस्म के रोजगार या रोजगार के समूह के लिए तैयार करे। कोई व्यावसायिक शिक्षा विभिन्न प्रकार की गतिविधियों में से एक हो सकती है। कुछ दृष्टान्तों में वह एक अलग तरह की उदार शिक्षा के समान दिख सकती है। उदाहरण के लिए, दर्शनशास्त्र में स्नातकोत्तर डिग्री किसी ऐसे इंसान की आवश्यक व्यावसायिक योग्यता होगी जो इस विषय को उच्च शिक्षा के स्तर पर पढ़ना चाहता हो। पर ऐसे किसी कार्यक्रम की पाठ्यचर्या और शिक्षाशास्त्र में तथा उदारवादी उद्देश्यों से गढ़े गए दर्शनशास्त्र के किसी कार्यक्रम व पाठ्यचर्या में कोई अर्थपूर्ण अंतर नज़र नहीं आए; यह ज़रूरी नहीं है। इसके बावजूद व्यावसायिक शिक्षा के प्रति सबसे आम नज़रिया किसी पेशे के लिए प्रशिक्षण (जॉब ट्रेनिंग) का है। यह व्यावसायिक शिक्षा क्या हो सकती है या दरअसल क्या है, का एक बेहद विकृत नज़रिया है। यह विविध प्रकार के उपलब्ध पेशों को शामिल करने में असफल रहता है। ऐसे पेशों में लेखन या प्रबंध चिकित्सा या कानून जैसे पेशे, अल्मारी बनाना या धातु से काम करने जैसे शिल्प और बढ़ईगिरी या प्लंबिंग जैसे धंधे शामिल हैं। इन सभी को अगर कारगर और उपयोगी ढंग से किया जाए तो इनमें तकनीकी ज्ञान और कौशल, सामाजिक क्षमता तथा नैतिक प्रतिबद्धता की ज़रूरत होती है। किसी व्यवसाय को अपनाना-चुनना अपने-आपमें लक्ष्यों को चुनना होता है। इतना ही नहीं किसी पेशे को अपनाने के साथ कुछ मूल्य भी जुड़े होते हैं, जैसे मेहनत, लगन, ईमानदारी, अपने शिल्प और उसकी परंपरा पर गर्व। ये सभी ऐसे अंतर्निहित मूल्य हैं जिनको पेशे के साथ ही चुनना होता है। इस अर्थ में व्यावसायिक शिक्षा का संबंध 'कमज़ोर स्वायत्ता' के साथ होता है, न कि महज साधन के विषय में स्वतंत्रता के साथ।

ब्रिटेन व कुछ अन्य देशों में व्यावसायिक शिक्षा की एक खासतौर से सीमित अवधारणा जन सामान्य की तथा पेशेवर लोगों के चिंतन पर हावी हो गई है। इसके कई कारण हैं पर मसला यह प्रतीत होता है कि व्यावसायिक शिक्षा के प्रयोजन, उसके मूल्य और उसकी प्रकृति के बारे में विभिन्न समाजों का नज़रिया भी अलग-अलग होता है।⁸

नागरिकता के लिए शिक्षा यह मांग करती है कि युवा वर्ग को समाज में सकारात्मक और रचनात्मक भूमिका के लिए तैयार किया जाए। नैतिक परिपक्वता और कमज़ोर स्वायत्ता इसकी पूर्व शर्तें प्रतीत होती हैं। साथ ही काम के माध्यम से समाज में एक भूमिका निभाने की क्षमता की भी दरकार होती है, फिर चाहे वह काम सवैतनिक हो, स्वैच्छिक हो या घरेलू ही क्यों न हो। पर नागरिकता के लिए शिक्षा में इससे अधिक भी होता है: उदाहरण के बतौर एक माता या पिता बनने के लिए, एक मतदाता बनने के लिए या स्थानीय पार्षद बनने के लिए व्यावहारिक कौशल व ज्ञान सीखना ज़रूरी हो सकता है। पर यह दावा नहीं किया जा सकता कि नागरिकता के लिए शिक्षा के उद्देश्यों और व्यावसायिक तथा उदारवादी शिक्षा के उद्देश्यों में कोई आच्छादन (ओवरलैप) नहीं होता। यह भी ज़रूरी नहीं है कि आंतरिक व बाह्य उद्देश्य बेमेल हों।

ऐसी उदार शिक्षा जो एक नागरिक के रूप में काम और जीवन के लिए कोई तैयारी न करवाती हो वह अधिकांश लोगों के लिए असहनीय होगी। इसी तरह जो व्यावसायिक शिक्षा आंतरिक या सामाजिक संतोष उपलब्ध न करवाती हो वह निरानंद और असंतोषप्रद ही होगी। जिस नागरिक की कोई सांस्कृतिक पृष्ठभूमि न हो और जिसमें समाज के आर्थिक जीवन में भागीदारी करने की क्षमता न हो वह केवल एक आंशिक नागरिक ही होगा।

उपरोक्त चिंतन सुझाता है कि शिक्षा के विविध स्वरूपों में एक हद तक समानता होती है और उनके कुछ उद्देश्य भी समान होते हैं। मतलब यह कि, कुछ की तुलना में कुछ अन्य उद्देश्यों पर कितना बल दिया जाना चाहिए इस मसले पर हमेशा ही तनाव रहेगा। पर अगर ये उद्देश्य एक-दूसरे के पूरक हों और पारस्परिक समझौते से गढ़े गए हों तो ज़रूरी नहीं है कि उद्देश्यों की इस विविधता के कारण सामाजिक एकता खंडित हो। किस उद्देश्य को कितनी प्रथमिकता दी जाए और उसे किस प्रकार की संस्था में समायोजित किया जाए जैसे मसलों पर मोल-तोल की काफी गुंजाइश होती है। किसी स्वस्थ राजनैतिक व्यवस्था में शिक्षा की प्रकृति पर विवाद उसकी विभिन्न अवधारणाओं के सापेक्ष महत्त्व पर होना चाहिए। इस बात पर नहीं कि उन विभिन्न अवधारणाओं में से कौनसी एकमात्र सही अवधारणा है।⁹

यह हम पहले ही देख चुके हैं कि उपयोगी संस्थाएं होने के नाते हालांकि स्कूलों तथा कॉलेजों के अपने-अपने उद्देश्य होते हैं, पर वे क्या हैं यह दरअसल हमेशा न तो बाहरी लोगों को, न ही भागीदारों को स्पष्ट हो पाता है। इस विचार से बचा नहीं जा सकता कि शिक्षित होने का एक न्यूनतम मानदण्ड होना ही चाहिए जो किसी शिक्षा प्रणाली से जुड़े छात्र सफल हुए या नहीं को परिभाषित करती हो। यह मानदण्ड एक से दूसरे देश या एक से दूसरी संस्कृति में अलग-अलग हो सकता है। पर किसी भी शिक्षा प्रणाली में मानदण्ड जैसा कुछ होना बेहद ज़रूरी है। अगर यह न हो तो समूची प्रणाली की सफलता को मापना भी कठिन होगा। और अगर ऐसा हो तो जवाबदेही की समस्या उठेगी। क्योंकि कोई शिक्षा व्यवस्था जो शिक्षा का एक न्यूनतम स्तर तक तय न कर सके, वह उन लोगों के सामने अपना औचित्य कैसे सिद्ध कर सकेगी जो उसके लिए कीमत चुकाते हों या उसमें समय का निवेश करते हों?

लेटविन (देखें टिप्पणी 4) जिस अर्थ में बुनियादी तैयारी (ग्राउन्डिंग) के जुमले का प्रयोग करते हैं, वह उस किस्म की आज़ादी की ओर संकेत करता है जिसका वर्णन किया जा चुका है। ऐसी बुनियाद तैयार करना निर्विवाद रूप से किसी भी प्रकार की शैक्षिक व्यवस्था का उद्देश्य प्रतीत होता है। लैटविन कहते हैं कि स्कूलों का यह 'परम दायित्व' (एब्सोल्यूट ड्यूटी) है कि वह अपने छात्रों को ऐसी बुनियाद उपलब्ध करवाएं। इसके बावजूद कई स्कूल इसे अपने परम दायित्व के रूप में नहीं स्वीकारते, शायद वे यह मानते हैं कि शिक्षा के अन्य उद्देश्यों को हासिल करने के उप-उत्पाद के रूप में बुनियादी तैयारी स्वतः ही हासिल हो जाएगी। छात्रों की बुनियादी तैयारी को एक न्यूनतम उद्देश्य के रूप में तो देखा जा सकता है, परन्तु इसे उल्लेख करने योग्य उद्देश्यों के समूह में शामिल नहीं किया जा सकता। यह मसला केवल सैद्धान्तिक नहीं है; सार्वजनिक स्तर पर यह जागरूकता बढ़ी है कि अमरीका व पश्चिमी यूरोप के कुछ भागों में अक्षर व अंक ज्ञान का स्तर संभवतः घट रहा है। इस स्थिति का संबंध संभवतः स्कूलों के ऐसे उद्देश्यों से हो सकता है जो अन्य उद्देश्यों, जैसे बुनियाद तैयार करने को स्वतः हो जाने वाली घटना मानकर चलते हैं। या फिर उनकी वांछनीयता तक को नकार देते हैं। उदाहरण के लिए, यह सोचा जा सकता है कि छात्रों के लिए लिपिकीय कौशलों, जैसे सही वर्तनी में दक्षता, से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है रचनात्मक होना। कई शिक्षा प्रणालियों में छात्रों की बुनियादी तैयारी की ज़िम्मेदारी स्पष्ट स्थापित ही नहीं की गई है। न ही हमेशा यह ही स्पष्ट हो पाता है कि बुनियादी तैयारी की सही सीमाएं क्या हैं।

अगर बुनियाद तैयार करना किसी शिक्षा व्यवस्था का परम दायित्व है और उदार तथा व्यावसायिक शिक्षाविद् अमूमन 'स्वायत्ता' को इससे कुछ अधिक मानते हैं, तो क्या सार्वजनिक वित्त से चलने वाली शिक्षा प्रणाली के प्रमुख उद्देश्यों में एक कमज़ोर स्वायत्ता होनी चाहिए? व्हाइट का उत्तर संभवतः नहीं होगा। इसलिए क्योंकि स्वायत्ता को हासिल करने में जीवन की योजना बना पाने की क्षमता व बुनियादी तैयारी हासिल करना ज़रूरी तो होता है। पर स्वायत्त बनने के लिए इतना भर काफी नहीं है।¹⁰ कुछ यह तर्क भी कर सकते हैं कि जीवन योजना बनाने की क्षमता उपलब्ध करवाना शिक्षा का काम नहीं है। सैम्युअल जॉनसन के उपन्यास में रास्सेलास, जो एबिसीनिया का राजकुमार था, तीस वर्ष की उम्र हो जाने और व्यापक शैक्षणिक अनुभवों के बावजूद, अपनी जीवन योजना बनाने में सक्षम प्रतीत नहीं होता।¹¹ यह कहने में भी तमाम कठिनाइयां हैं कि जीवन के लक्ष्यों को चुन पाने के लिए स्वायत्ता की तैयारी किस हद तक शिक्षा का वास्तविक काम होना चाहिए। क्या किसी शिक्षा व्यवस्था के लिए यह उचित होगा कि वह बच्चों को ऐसे लक्ष्यों को चुनने के लिए तैयार करे जो उस समाज द्वारा किसी न किसी प्रकार स्वीकृत न हों, जिसमें वे रहते हैं?¹²

किसी लोकतांत्रिक समाज में यह सुझाना स्वभाविक ही है कि जीवन की तैयारी में यह शामिल हो कि बच्चे समाज द्वारा स्वीकृत रूपरेखा के तहत ही महत्वपूर्ण निर्णय ले पाने की यह क्षमता हासिल करें कि वे अपना जीवन कैसे जीना चाहते हैं। इस संदर्भ में आपत्ति यह उठाई जा सकती है कि ऐसे समाज में स्वयं उस रूपरेखा को भी विवेचनात्मक मूल्यांकन का विषय होना चाहिए। हालांकि यह आपत्ति जायज़ है, इसका मतलब यह नहीं हो सकता कि कोई भी मूल्य विवेचनात्मक मूल्यांकन या संशोधन से मुक्त नहीं होना चाहिए। इसलिए क्योंकि मोल-तोल या समझौते की एक स्थापित रूपरेखा के माध्यम से लक्ष्यों की रूपरेखा तक पहुंचा जाता है। और इस रूपरेखा को कमज़ोर बनाना उस

आधार को ही संकट में डाल देता है जिसके द्वारा समझौते होते हैं। अतः किसी लोकतंत्र की सार्वजनिक वित्त से चलने वाली शिक्षा प्रणाली की भूमिका किशोरों को लोकतांत्रिक मूल्यों पर प्रश्न उठाने को प्रोत्साहित करने की नहीं हो सकती।

हालांकि स्वायत्ता का निहित अर्थ यह होता है कि व्यक्ति विभिन्न तरीके से आत्मनिर्भर बनें, पर यह नहीं हो सकता कि वे परस्पर निर्भर होना बंद कर दें या बिना किसी दूसरे की मदद से काम करने में सक्षम बन जाएं। स्वायत्ता का निहितार्थ है समाज द्वारा स्वीकृत अनेक लक्ष्यों में से किसी एक को चुन पाने की क्षमता और साथ ही जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी राह निकाल पाने की क्षमता। उदाहरण के लिए, आर्थिक, कलात्मक, घरेलू, सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्रों में। पर इनमें से कुछ भी कर पाने की क्षमता का निहित अर्थ होगा कि लोग एक-दूसरे से संबद्ध हों और उन्हें परस्पर कई प्रकार से निर्भर रहने की ज़रूरत हो। अगर शिक्षा उन्हें यह कर पाने में मदद करती है तो इसका मतलब यह होगा कि बच्चों को तमाम किस्म की पाठ्यचर्याएं उपलब्ध करवाई जाएं ताकि ये चुनाव सार्थक हों। ऐसी शिक्षा खालिस तकनीकी शिक्षा नहीं हो सकती। उसमें एक व्यक्तिगत व सामाजिक आयाम शामिल करने होंगे। ताकि बच्चे जीवन का जो भी क्षेत्र चुनें उसमें आत्मनिर्भरता और परस्परिक-निर्भरता का सही संतुलन भी पा सकें। यही किसी जटिल व परस्पर निर्भर समाज में स्वायत्ता की पूर्वशर्त प्रतीत होती है। ♦

(यह लेख क्रिस्टोफर विंच के 'द एम्स ऑफ एज्युकेशन रीविजिटेड' के चयनित अंश का अनुवाद है।)

भाषान्तर : पूर्वा कुशवाहा

टिप्पणियां

1. पिछली शर्त इसलिए ज़रूरी है क्योंकि ऐसे भी उदाहरण हो सकते हैं जिनमें किसी समाज के शैक्षिक उद्देश्यों को लिखित रूप में दर्ज किए बिना ही उन पर सहमति हो और उन्हें सबके द्वारा स्वीकार लिया गया हो। इसके विपरीत, उद्देश्य प्रभावी तरीके से लिखे जा सकते हैं परन्तु संबंधित लोगों की सहमति पाने में असफल भी हो सकते हैं। लिखित उद्देश्य न तो आवश्यक है न ही सबकी सहमति पाने की पर्याप्त शर्त ही है; उनका लिखित स्वरूप उस सहमति निर्माण को प्रत्यक्ष रूप से जाहिर करने का आसान उपाय है, जिन तक अप्रत्यक्ष रूप से पहुंचा गया हो।
2. इसमें कुछ भी ऐसा नहीं है जो यह सुझाता हो कि लोगों के लिए अपने मूल्यों को बदलना या उन्हें बदलने के लिए लोगों को राजी करना असंभव है। व्यक्ति 'जीवन कैसे जिया जाना चाहिए' के बारे में किसी नज़रिए को आकर्षक पा सकता है और तब, बाद में कभी, किसी के साथ हुई बातचीत के परिणामस्वरूप, उसी को कम आकर्षक मान सकता है। पर यह बात मूल्यों पर मोल-तोल करने के समान नहीं है।
3. उदाहरण के लिए, देखें जे.पी. व्हाइट की, एज्युकेशन एण्ड द गुड लाइफ, 1990; आर. नॉरमन 'आई डिड इट माय वे': सम रिफ्लैक्शन्स ऑन ऑटोनमी, जर्नल ऑफ फिलॉसफी, 28.11, 1994, पृ. 25-34।
4. तुलना करें, ऑलिवर लैटविन, एज्युकेशन: द इम्पॉर्टेन्स ऑफ ग्राउन्डिंग, 1988।
5. वास्तव में, अगर पी.जी. वुडहाउस पर विश्वास करें तो उस इंसान को नहीं बल्कि उसके खिदमतगार को, ऐसी शिक्षा की ज़रूरत होगी ताकि खिदमतगार उस इंसान को समाज में सुरक्षित तरीके से सही राह पर बढ़ा सके। बर्टी वूस्टर को (उत्पादक नहीं तो कम से कम) एक उत्तेजक और भरपूर ज़िंदगी जीने के लिए उदार शिक्षा की खास ज़रूरत नहीं लगती।
6. ग्रामर स्कूल अपने यहां पढ़ने वाले कई बच्चों की स्वायत्त जीवन की तैयारी करवाने में किस कदर अपर्याप्त थे उसके प्रमाण के लिए लेख के भाग 3 की टिप्पणी संख्या 4 देखें, और उसकी तुलना एम. सैण्डरसन, के अध्याय 7 से करें।
7. सी. विंच, उद्धृत पुस्तक, 1995।
8. इस विषय में जर्मनी की यू.के. से तुलना करना रोचक है। देखें एचएमआई, आस्पैक्ट्स ऑफ वोकेशनल एज्युकेशन इन द फेडरल रिपब्लिक ऑफ जर्मनी, 1990।
9. देखें हैरॉल्ड एन्टविस्टल, उद्धृत पुस्तक।
10. तुलना करें, व्हाइट, उद्धृत पुस्तक, पृ. 25-26।
11. सैम्युअल जॉनसन, रास्सैलास्। चार्ल्स पीक (संपादित), 'रास्सैलास्' एण्ड एसेज़' में उपलब्ध।
12. उदाहरणार्थ देखें, जे.पी. व्हाइट, उद्धृत पुस्तक; आर. नॉरमन, उद्धृत पुस्तक।